International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 03-01-2022, Accepted: 18-01-2022, Published: 03-02-2022
Volume 8, Issue 1, 2022, Page No. 80-85

कौटिलीय अर्थशास्त्र में विधि व्यवस्था

आयशा फ़ातमी
एसो. प्रो., प्रा. भा. इति. एवं पुरातत्व विभाग, नारी शिक्षा निकेतन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
विधि अथवा क़ानून किसी नियम–संहिता को कहा जाता है। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिये 'विधि–संहिता' का होना अत्यन्त आवश्यक है। विधि मनुष्य के आचरण के समान्य नियम होते हैं जो राज्य द्वारा स्वीकृत तथा औपबन्धिक होते हैं। इनका पालन करना आवश्यक होता है और इनका पालन न करने पर 'दण्ड' की व्यवस्था भी विधि में की जाती है। भारतीय व्यवस्थाकारों ने समाज एवं मनुष्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिये जिन प्रथाओं, परम्पराओं और विधानों को लिपिबद्ध किया, उनमें अर्थशास्त्र में ,जो कौटिल्य की महानतम् रचना है, अपराध, दण्ड एवं न्याय संबंधी सभी विधिक कार्य प्रणालियों का विस्तार से वर्णन है। प्रस्तुत शोध–पत्र में कौटिलीय अर्थशास्त्र में विधि व्यवस्था के साक्ष्य एकत्रित करने का प्रयास किया गया है।

मूल शब्दः विधि, दण्ड, अपराध, न्याय, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धर्मस्थीय, कण्टकशोधन

प्रस्तावना

मानव और अपराध का संबंध आदिकाल से रहा है। अपराध अथवा दण्डाभियोग की परिभाषा भिन्न–भिन्न रूपों में की गयी है, जिससे आभासित होता है कि अपराध एक समाजविरोधी क्रिया है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित आचरण का उल्लंघन करता है। प्रारंभिक आदिम समाजों में लोक प्रयासों और विभिन्न रीतियों द्वारा व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित किया जाता था एवं इनका उल्लंघन करने पर समूह के द्वारा दण्ड का विधान भी निश्चित किया जाता था।

भारतीय व्यवस्थाकारों ने समाज एवं मनुष्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिये जिन मान्य परम्पराओं, प्रयासों और विधाओं को लिपिबद्ध किया है, उन्हीं नियमों को विधि अथवा क़ानून की संज्ञा दी गयी। वैदिक युग से ही विधि एवं विधिक संस्थाओं की स्थापना प्रारंभ हो गयी थी। इनमें विधि द्वारा न्याय के संकेत मिलते हैं।[1] उत्तर वैदिक काल में धर्मशास्त्रों, सूत्रसाहित्य एवं स्मृतिग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से विधि का स्वरूप निर्मित हुआ। धर्म व्यवस्था के मूल स्रोत वेद हैं, तथापि इतिहास स्मृति एवं आचार से भी धर्म व्यवस्था का बोध होता है।[2] परिषद का अस्तित्व इसकी पुष्टि करता है।[3] धर्मशास्त्रों के नियम 'विधि' के रूप में मान्य थे, किन्तु राज्य द्वारा जो नियम लागू किये जाते थे, उन्हें ही राज्यानुशासन कहा गया है।[4] प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं राजनैतिक चिंतकों ने राज्य संरचना एवं समाज संरचना में ऐसी व्यवस्था करने का प्रयास किया कि सभी प्रकार की विधियों का निर्णय उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा हो। कौटिलीय अर्थशास्त्र इस विषय पर वृहद एव ंगहन शोध प्रस्तुत करता है, जहाँ अपराध, दण्ड एवं न्याय संबंधी सभी विधिक कार्य प्रणालियों का विस्तार से वर्णन है।

कौटिल्य अथवा चाणक्य को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन माना जाता है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात रचा गया महान अर्थशास्त्र राजतंत्र पर अंकुश लगाये रखने का, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन का, जनसामान्य के सामाजिक अधिकार निश्चित करने का एवं राष्ट्र की रक्षा का स्थायी प्रबन्ध करने का अद्वितीय सिद्धान्त शास्त्र है। कौटिल्य ने जिस राजतंत्र के लिये अपने महान् सिद्धान्त शास्त्र की रचना की, उसमें जनता के साम्पत्तिक एवं दाण्डिक विवादों का निपटारा करने के लिये न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान किया गया था जो राजा की इच्छाओं से निरपेक्ष होकर और आत्म विवेक से विवादों का निपटारा करते थे। नागरिकों के पारस्परिक कलहों के मूल कारणों का पता लगाकर उनकी विवेचना करना फिर निष्पक्ष होकर दोषी को दण्ड देकर निर्दोष को मुक्त करना कौटिल्य की विधि व्यवस्था का व्यवहारिक पक्ष है। कौटिल्य के अनुसार–

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्
नात्यप्रियं हितं राज्यः प्रजानां तु प्रियं प्रियम[5]

अर्थात "प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने को प्रिय लगने वाले कार्यों में राजा का हित नहीं है, अपितु उसका हित तो प्रजा जनों को भला लगने वाले कार्यों में है।"
कौटिल्य ने सार्थकता के क्रम में विधि के चार स्त्रोतों का उल्लेख किया है। यथा––

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्
विादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः[6]

1. धर्म (सत्य पर आधारित धर्मोपदेश, धर्मशास्त्र)
2. व्यवहार (इक़रारनामे अथवा शर्तनामें)
3. चरित्र (रीति–रिवाज)
4. राजशासन (राजाज्ञा)

इन्ही चारो स्त्रोतों पर राज्य टिका होता है क्योंकि ये विवादों के निर्णायक साधन होते हैं ,इसी कारण राज्य के चार पैर के समान होते हैं। इनमें भी धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र की अपेक्षा राजाज्ञा श्रेष्ठ है। यह भी कहा गया है कि राजा को धर्म, व्यवहार, चरित्र (लोकाचार) तथा न्याय के अनुसार विधि का पालन करवाना चाहिए जिसे वह अनुशासन कहता है।——

अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया
न्यायेनं च चतुर्येन चतुरन्तां महीं जयेत्[7]

क्योंकि 'धर्म, व्यवहार, चरित्र और न्यायपूर्वक शासन करता हुआ राजा ही सारी पृथ्वी का स्वामित्व प्राप्त कर सकता है।" राजशासन अथवा राजाज्ञा जो विधि का चौथा स्त्रोत है ,वह न्याय पर आधारित प्रतीत होता है अर्थात राजा की दृष्टि में क्या उचित है और क्या अनुचित है, यही न्याय का आधार है। राजशासन अर्थात यह बात कि राजा विधि को किस रूप में लागू करता है या जिसे हम 'न्यायाधीश' का निर्णय अथवा न्यायाधीश द्वारा संचालित विधि व्यवस्था कह सकते हैं, वह न्यााय अर्थात धर्म द्वारा निर्धारित होता था। साथ में राजा को ये निर्देश भी हैं कि वह प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करे——

राज्ञः स्वधर्मः स्वर्गाय प्रजा धर्मेणरक्षितुः[8]

क्योंकि 'धर्म पूर्वक प्रजा पर शासन करना ही राजा का निजी धर्म है, प्रजा की रक्षा न करके उसको पीड़ा पहुँचाने वाला राजा कभी भी सुखी नहीं रहता है।" इस प्रकार विधि का अन्तिम स्त्रोत न्याय है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि किसी विवाद में लोकाचार और चरित्र तथा धर्मशास्त्र के मध्य विरोधाभास हो तो 'धर्मशास्त्र' को प्रामाणिक माना जाये——

संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यवहारिकम्
यस्मिन्नर्थे विरुद्धयेत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्[9]

ऐसी परिस्थिति में गवाहों (साक्षी) एवं राजा के मत का कोई महत्व नहीं था। परन्तु यदि शास्त्र अर्थात धर्मशास्त्र और स्थानीय धर्म तथा आचार एवं रीति रिवाजों द्वारा समर्थित न्याय के मध्य कोई मतभेद हो तो **'न्याय'** को प्रधानता दी जाती थी। ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्र के सूत्रों का कोई महत्व नही होता था।

शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति[10]

कौटिल्य ने इस परिकल्पना को स्थापित किया कि राजा दण्ड का प्रतीक होता है एवं 'दण्ड' धर्म का अर्थात वह वर्णाश्रम धर्म और उस पर आधारित लोकाचार का नियमन करने वाली विधि की रक्षा करता है। यही राजधर्म अन्य सभी धर्मो की रक्षा करता है ,जो इस संरक्षण के बिना नष्ट हो सकते हैं। यथा——

चतुर्वर्णाश्रयस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्म प्रवर्तकः[11]

'चारो वर्णो, चारो आश्रमों, सम्पूर्ण लोकाचार और नष्ट होते हुए सभी धर्मों का रक्षक राजा है, इसीलिये उसे धर्म का प्रवर्तक माना जाता है।" इस प्रकार दण्डनीति जो समस्त व्यक्तियों से समान रूप से धर्म पालन कराती है, उसमें पुत्र और शत्रु का भेद नहीं होता, वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करती, यही इस लोक में सुख की स्थापना तथा परलोक में भी सुख का मार्ग प्रशस्त करती है।

दण्डो हि केमलो लोकं परं चेमं च रक्षति
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः[12]

"पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार समान रूप से राजा द्वारा दिया हुआ दण्ड ही लोक और परलोक की रक्षा करता है।"
कौटिल्य कालीन समाज में साधारण सांपत्तिक 'विवादों' एवं फ़ौजदारी संबंधी 'विवादों' का निर्णय 'स्थानीय' स्तर पर हो जाता था। यह पद्धति परम्परागत् रूप में थी जिसे कौटिल्य ने भी मान्यता दी थी फिर भी विवादों के समाधान के लिये पूर्व की अपेक्षा कौटिल्य के समय में एक परिष्कृत व्यवस्था की स्थापना की गयी थी। 'आमतौर पर विवादों का निपटारा स्थायी अथवा अल्पकाल के लिये स्थापित की गयी पंचो की सभा' द्वारा अथवा विभिन्न कोटियों के पदाधिकारियों द्वारा कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त राजा के पास तक अपील करने की पद्धति भी प्रचलित थी, जो नियमित रूप से न्यायालय में उपस्थित रहता था या कोई मंत्री प्राड्विवाक उसका प्रतिनिधित्व करता था। वर्ण अथवा धर्म से संबंधित

अपराधों की सुनवाई 'परिषद' नामक समितियों के समक्ष होती थी।[13] उदाहरणार्थ––गाँवों में यदि सीमाओं के संबंध में कोई विवाद हो जाये तो गाँव के बड़े बूढ़े तथा आसपास के 5–10 गाँवों के समझदार लोग मिलकर तुरन्त वहीं पर उसका समाधान कर देते थे।––

सीमाविवादं ग्रामयोरुभयोः सामन्ता पंचग्रामी दशग्रामीवा सेतुभिः स्थावैरः कृत्रिमैर्वा कुर्यात[14]

अर्थात "दो गाँवों के झगड़े को उन गाँवों के मुखिया या आस–पास के पाँच–पाँच, दस–दस गाँवों के मुखिया आपस में मिल बैठकर निपटाएं। दो गाँवों के मध्य वे स्थायी अथवा अस्थायी सीमा बना दें।" खेतो के स्वामित्व के संबंध में जो विवाद होते थे वे गाँव के मुखिया तथा वृद्ध पुरुषों द्वारा निपटाये जाते थे। यदि उनमें मतैक्य नहीं बन पाता था तो निर्णय ऐसे व्यक्तियों के 'बहुमत' से होता था जिनकी सत्यनिष्ठा तथा लोकप्रियता सर्वस्वीकार्य हो।

"क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः। तेषां द्वैधीभावे यतोवहवः शुचयोऽनुमता वा ततो नियच्छेयुः"[15]

इसी प्रकार से तपोवन, चारागाह, बड़ी सड़कें, शमशान, देवालय, यज्ञस्थान और दूसरे पुण्यस्थानों के विवादास्पद विषयों का भी निर्णय किया जाता था। यथा–

तेन तपोवनविवीतमहापथश्मशानदेवकुलयज्ञनपुण्यस्थानविवादा व्याख्याताः[16]

सामीप्य तथा स्थानीय ज्ञान के इस सिद्धान्त को अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी स्वीकार किया है। जैसे वन वासियों के विवादों का निर्णय वनवासियों की सहायता से, व्यापारियों के विवादों का ,व्यापारियों की सहायता से, सैनिकों के विवाद सैनिकों की सहायता से ही निर्णीत किये जाने चाहिए।[17] इस प्रकार विवादों के निपटारे में समाज का हर वर्ग स्वशासित था।
जो विवाद स्थानीय स्तर पर नहीं निपट पाते थे, उनके लिये न्यायालयों (न्यायाधिकरणों) तथा न्यायाधीशों (धर्मस्थ) की व्यवस्था की गयी थी। राजशासन में राजधर्म का पूर्णज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था जिन्हें 'धर्मस्थ' कहा जाता था।[18] न्यायाधीश अमात्यों के स्तर के अधिकारी थे, जो धर्म की कसौटी पर भी पूरे उतरते थे––

तत्र धर्मोपधाशुद्धान धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषुस्थापयेत्[19]

अर्थात "जो अमात्य धर्मपरीक्षा मे खरे उतरे उन्हें धर्मस्थीय (दीवानी) तथा कण्टकशोधन (फ़ौजदारी) संबंधी कार्यों में नियुक्त करना चाहिये।" गुप्त धार्मिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की परीक्षा को 'धर्मोपधा' कहते थे –

प्रत्याख्याने शुचि रिति धर्मोपधा[20]

न्यायालय में छः न्यायाधीश होते थे जिनमें से तीन विधि के विशेषज्ञ थे और तीन अमात्य होते थे। न्यायालय चार प्रकार के होते थे जो दो जनपदों के संधि स्थानों, दस ग्रामों के केन्द्रीभूत संग्रहणों, चार सौ ग्रामों के केन्द्रीभूत द्रोणमुखों एवं आठ सौ ग्रामों के केन्द्रीभूत स्थानिकों पर स्थापित किये जाते थे। इन अधिकरणें के सदस्यों की देख रेख में सामाजिक तथा क़ानूनी व्यवहार, शर्तनामे आदि बनाये जाते थे एवं छिपकर, कपटपूर्ण तथा एकान्त में किये गये व्यवहार तथा शर्तनामे प्रामाणिक नहीं माने जाते थे। यथा–

धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसंधिसंग्रहणद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान कुर्युः तिरोहितान्तरगारनक्तारण्योपध्यपह्र कृतांश्व व्यवहारान् प्रतिषेधयेषुः[21]

अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण में (प्रकरण 56–75) धर्मस्थीय न्यायालय एवं उसके कानूनों में निम्न विषयों को सम्मिलित किया गया हैं.....

1. व्यवहारों (शर्तनामों) की स्थापना एवं तत्संबंधी विवादों का निर्णय (अध्याय 1)
2. विवाहसंबंध 1(धर्मविवाहः स्त्रीधनः स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकारः पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार (अध्याय 2)
3. विवाह संबंध 2 (स्त्री का पालन पोषणः कठोर स्त्री के साथ व्यवहारः पति पत्नी का द्वेष पति पत्नी का अतिचार एवं अतिचार पर प्रतिषेध)(अध्याय 3)
4. विवाह संबंध 3 (परिणीता का निष्पतन, परपुरुष का अनुसरण ,पुनर्विवाह की स्थिति) (अध्याय 4)
5. दाय विभाग (उत्तराधिकार का सामान्य नियम) (अध्याय 5)
6. दाय विभाग (पैतृक क्रम से विशेषाधिकार) (अध्याय 6)
7. दाय विभाग (पुत्र क्रम से उत्तराधिकार) (अध्याय 7)
8. वास्तुक (गृह निर्माण) (अध्याय 8)
9. वास्तुक(गृहविक्रय, सीमाविवाद, खेतों की सीमाएं, मिश्रितविवाद, कर की छूट (अध्याय 9)
10. वास्तुक (मार्गों का रोकना, गाँवों की व्यवस्था, चरागाहों का प्रबन्ध ,सामूहिक कार्यों में सम्मिलित न होने का मुआवज़ा)(अध्याय 10)
11. ऋण (अध्याय 11)
12. धरोहर संबंधी नियम (अध्याय 12)

13. दास एवं श्रमिक संबंधी नियम(अध्याय 13)
14. श्रम के नियम और साझेदारी का भाग (अध्याय 14)
15. क्रयविक्रय संबंधी नियम (अध्याय 15)
16. दान किया हुआ धन न देना, अस्वामि विक्रय एवं स्वस्वामि संबंध (अध्याय 16)
17. साहस (हिंसा) (अध्याय 17)
18. वाक्पारुष्य (गालीगलौज, निन्दा, धमकाना आदि) (अध्याय 18)
19. दण्डपारुष्य (किसी को शारीरिक चोट पहुँचाना)(अध्याय 19)
20. द्यूत एवं विविध विषय (द्यूत समाध्य एवं प्रकीर्णक)(अध्याय 20)

अर्थशास्त्र में फौजदारी के कानून की व्यवस्था के लिये कण्टकशोधन शब्द का प्रयोग किया गया है, जिनमें तीन प्रदेष्टा (कमिश्नर) अथवा तीन मंत्री प्रजापीड़क व्यक्तियों से प्रजा की रक्षा करते थे।

प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः[22]

इसके अन्तर्गत जो अपराध तथा उनसे संबंधित क़ानून(अधिकरण 4, प्रकरण 76–88, अध्याय 1–13)
बनाये गये थे, वे निम्न हैं––

1. कारुकरक्षणाम् (शिल्पियों से प्रजा की रक्षा– अध्याय ।)
2. वैदेहकररक्षणाम् (व्यापारियोंसे प्रजा की रक्षा– अध्याय 2)
3. उपनिपातप्रतीकार (दैवीय आपत्तियों से प्रजा की रक्षा के उपाय –अध्याय 3)
4. गूढ़ाजीविनां रक्षा (गुप्त षडयंत्रकारियों से प्रजा की रक्षा के उपाय– अध्याय 4)
5. सिद्धवेशधारीगुप्तचरों द्वारा दुष्टों का दमन (अध्याय 5)
6. शंकारूपकर्मामिग्रह (शंकित पुरुषों, चोरी और चोर की पहचान–अध्याय 6)
7. आशुमृतकपरीक्षा (अध्याय 7)
8. वाक्यकर्मानुयोग (जाँच और यातना के द्वारा चोरी को अंगीकार कराना– अध्याय 8)
9. सर्वाधिकरणारक्षणाम्(सरकारी विभागों और कर्मचारियों की निगरानी– अध्याय 9)
10. एकांगवधनिष्क्रय (एकांगवध तथा द्रव्यदण्ड– अध्याय 10)
11. शुद्ध दण्ड एवं चि़त्रदण्ड (अध्याय 11)
12. कन्याप्रकर्म (कुंवारी कन्या से संभोग का दण्ड– अध्याय 12)
13. अतिचार का दण्ड (अध्याय 13)

न्याय में विलम्ब नहीं किया जाता था। प्रतिवादी को अपना बिन्दु रखने के लिये 3 से 7 दिन दिया जाता था। विलम्ब होने पर जुर्माना लिया जाता था। वादी को अपना प्रत्युत्तर उसी दिन देना पड़ता था जिस दिन प्रतिवादी अपनी सफ़ाई पेश करता था।–

अभियोक्ता चेतप्रत्युक्तस्तदहरेव न प्रतिब्रूयात् परोक्तः
स्यातं्.................................तस्याप्रतिब्रुवतस्त्रिरांत्र सप्तरात्रमिति।[23]

निम्न पाँच बातों पर विवाद का निर्णय करते समय विशेष ध्यान दिया जाता था––

1. जिसका अपराध देख लिया गया हो।
2. जिसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया हो।
3. जो प्रश्नों का उत्तर सरलता से देता हो।
4. जो कारणों–प्रमाणों को सम्पूर्ण रूप में उपस्थित करता हो।
5. जिसने शपथ खायी हो।

इष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः
अनुयोगार्जवं हेतुः शपथश्चार्थसाधकः[24]

न्यायाधिकरण के कार्यकलाप में साक्षियों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण हो गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि एक दूसरे के प्रति विरोध की भावनाओं से प्रेरित व्यक्ति भी न्यायालय की शरण लेने लगे थे। मिथ्या अभियोग का संदेह बढ़ गया था, अतः साक्षियों की आवश्यकता अनुभव हुई। समाज के विभिन्न वर्णों के लिये पृथक–पृथक शपथ थी।[25]
उपर्युक्त पाँच हेतुओं के माध्यम से भी यदि वादी–प्रतिवादी की पारस्परिक विरुद्ध दलीलों का उचित समाधान न हो सके तो साक्षियों एवं गुप्तचरों के द्वारा मामले की छानबीन कराकर अपराध का निर्णय करना चाहिए–

पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तत्वकारणे चारहस्ताच्च
निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः[26]

मौर्य समाज में शांति तथा सुव्यवस्था की जो सामान्य परिस्थितियां थीं उनका वर्णन मैगस्थनीज़ ने खुले शब्दों

में किया है –

"भारतवासी न तो सूद पर पैसा देते हैं और न ही वे उधार लेना जानते हैं। किसी के साथ कोई अन्याय करना या किसी अन्याय को सहन करना आचार–व्यवहार के प्रतिष्ठित मानदण्डों के विरुद्ध है और इसीलिये न तो वे कोई क़ानूनी लिखापढ़ी करते हैं और न ही उन्हें किसी की ज़मानत की आवश्यकता पड़ती है"।[27] "आज तक किसी भारत वासी को झूठ बोलने का दण्ड नहीं दिया गया है"।[28] स्ट्रेबो ने न्यायालयों के सम्मुख आने वाले विवादों की अल्पसंख्या का उल्लेख करते हुए कहा है––"उनके क़रारों (शर्तनामों) तथा उनके क़ानूनों की सादगी इस बात से सिद्ध होती है कि वे शायद ही कभी न्यायालयों की शरण में जाते हों।[29]

परन्तु शांति तथा सुव्यवस्था की इस व्याप्त भावना के साथ एक कठोर 'दण्डसंहिता' का होना कोई असंगत बात नहीं थी। कदाचित् इसी के कारण शांति और सुव्यवस्था बनी रही होगी। अर्थशास्त्र के तीन अध्यायों (1अ–8,10 एवं11) में विभिन्न प्रकार की यंत्रणाओं वाक्यकर्मानुयोग ,शुद्धदण्ड एवं चित्रदण्ड तथा अंगविच्छेद (एकांगवध) का उल्लेख किया गया है।

"व्यवहारिकं कर्मचतुष्कम– षडदण्डा', सप्तकशाः द्वावपरि निबन्धौ उदकनालिका च"[30]

अर्थात लोक में चार प्रकार के दण्ड प्रसिद्ध हैं––

1. छः डण्डे मारना
2. सात कोड़े मारना
3. हाथ पैर बाँधकर उलटा लटका देना
4. नाक में नमक का पानी डालना

इनके अतिरिक्त पापाचारी पुरुषों के लिये 14 दण्ड और थे––

परं पापकमर्णां नववेत्रलताडादशकं द्वावरुवेष्टौ विशंतिर्नक्तमाललताः द्वात्रिंशत्तलाः द्वौ वृश्चिकबन्धौ, उल्लंबने च द्वे सूचीहस्तस्य 'पवागपीतस्याप्रस्तावः एवपर्वदहनमुंगल्याः स्नेहपीतस्य प्रतापनमेकमहः,शिशिरात्रौ बल्बजाग्रशय्या चेत्यष्टादशंक कर्म।[31]

अर्थात –

नौ हाथ लम्बी बेंत से बारह बेंत लगाना, दोनों टांगों को बाँधकर करन्ज की छड़ी से 20 छड़ी लगाना, बत्तीस थप्पड मारना, बायें हाथ को पीछे बायें पैर से बाँधना, दायें हाथ को पीछे दायें पैर से बाँधना, दोनों हाथ आपस में बाँधकर लटका देना, दोनों पैर आपस में बाँधकर लटका देना, हाथ के नाखून में सुई चुभोना, लस्सी पिलाकर पेशाब न करने देना, अंगुली की एक पोर जला देना, घी पिलाकर पूरे दिन अग्नि या धूप में बिठाना, जाड़ों की रात में भीगी खाट पर सुलाना, अंगविच्छेद और मृत्युदण्ड के लिये शास्त्रों का आश्रय भी लिया गया–

"एते शास्त्रेष्वनुगताः क्लेशदण्डा महात्मनाम् अक्लिष्टानां तु पापानांधर्म्यः शुद्धवधः स्मृतः[32]

'कठोर मृत्यु दण्ड महात्माओं के धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इनसे हल्के पाप कर्मों के लिये शुद्ध प्राणदण्ड (कष्टरहित वध) को धर्मानुकूल समझना चाहिए।' पर इस प्रकार के शारीरिक दण्डों के बदले में जुर्माने आदि का उपबन्ध करके अंगभंग जैसे दण्ड को निरर्थक बना दिया गया था।[33] प्रदेष्टा नामक प्रधान अधिकारियों के अधीन न्याय के प्रशासन की कठोर व्यवस्था की गयी थी।

"समाहर्तृप्रदेष्टारः पूर्वमध्यंक्षाणायध्यक्षपुरुषाणां च नियमनं कुर्युः"[34]

साथ में ये भी निर्देश दिये गये कि राजा और अमात्यों को साथ लेकर प्रदेष्टा को चाहिए कि वह दण्ड देते समय अपराध को, अपराध के कारणों को, अपराधी की हैसियत को, वर्तमान तथा भावी परिणामों को, और देशकाल की स्थिति को भली–भाँति सोच समझ लें, तदनंतर न्याय के अनुसार प्रथम, मध्यम तथा उत्तम आदि दण्डों की सज़ा सुनाए'।––

"पुरुषं चापराधं च कारणंगुरुलाघवम्
अनुबन्धंतदात्वं च देशकालौसमीक्ष्य च
उत्तमावरमध्यत्वंप्रदेष्टादण्डकर्मणि
राज्ञश्य प्रकटीनां च कल्पयेदन्तरा स्थितः[35]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय मनीषी एक सभ्य संस्कारपूर्ण, शिक्षित तथा अपराधमुक्त समाज के निर्माण हेतु सतत् प्रयत्नशील थे। राजा तथा राज्य के कर्तव्यों में जनसामान्य को सुखी रखना प्रधान कार्य था। कौटिल्य ने अपनी विधि व्यवस्था में सर्वसमाज तथा राज्य दोनों को निर्भीक एवं भयमुक्त समाज के निर्माण में सहयोगी माना है। अतः आवश्यक है कि वर्तमान समय में न्यायिक अधिकारियों एवं राजनीतिज्ञों का ध्यान प्राचीन भारतीय विधि तथा न्याय व्यवस्था की ओर आकृष्ट किया जाय जिससे भयमुक्त राष्ट्र का निर्माण हो सके।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, 5/82/5, 7/13/1; अथर्ववेद,6/86/3, 8/2/12, 7/77/2
2. आपस्तम्ब,1/1/1/2–3
3. मनुस्मृति 12/08–15
4. शुक्रनीति; 4/552–54
5. अर्थशास्त्र;(कौटिलीय अर्थशास्त्रम, वाचस्पति गैरोला, वरराणसी 1962) 1/14/18
6. वही; 3/56–57/1
7. वही; 3/56–57/1
8. वही; 3/56–57/1
9. वही; 3/56–57/1
10. वही; 3/56–57/1
11. वही; 3/56–57/1
12. वही; 3/56–57/1
13. केम्ब्रिज हिस्ट्री; 1,485; चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल राधा कुमुद मुखर्जी नई दिल्ली 2016,पृष्ठ 186
14. अर्थशास्त्रः 3/65/9
15. अर्थशास्त्रः 3/65/9
16. अर्थशास्त्रः 3/65/9
17. मनुस्मृति,VIII,62,258, 262, 259, 260; याज्ञवल्क्य स्मृति, II, 150–2; वृहस्पतिस्मृति, II,25–7; शुक्रनीतिसार, IV, 5, 24 आदि
18. कौटिल्य कालीन भारत, आचार्य दीपंकर, लखनऊ, 2003, पृष्ठ 148
19. अर्थशास्त्र 1/5/9
20. अर्थशास्त्र 1/5/9
21. अर्थशास्त्र 3/56–57/1
22. वही 4/76/1
23. वही 3/56–57/1
24. वही 3/56–57/1
25. कौटिल्य कालीन भारत, आचार्य दीपंकर, लखनऊ , 2003, पृष्ठ 152–153
26. अर्थशास्त्र 3/56–57/1
27. अंश (गगVII)
28. अंश (गगगV)
29. गअए 702
30. अर्थशास्त्र 4/83/8
31. अर्थशास्त्र 4/83/8
32. वही 4/86/11
33. वही 4/85/10
34. वही 4/84/9
35. वही 4/85/10